# 1965G Ideals of Ancient Jain Monks

*Puratan Jain Sadhuon ke Adarsh* (In Anekant, 1965??)

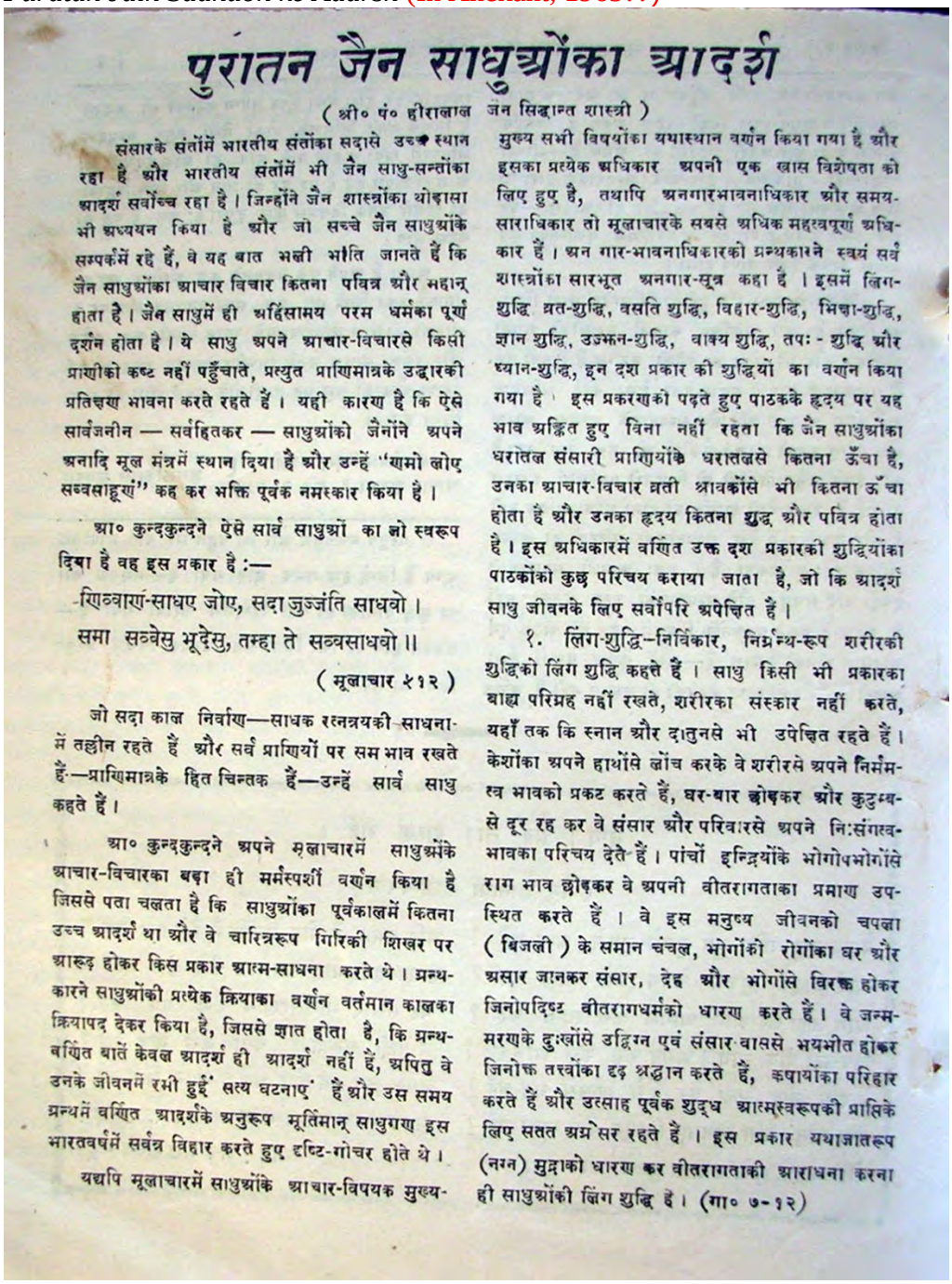

# पुरातन जैन साधुओंका आदर्श

( श्री० पं० हीरालाल जैन सिद्धान्त शास्त्री )

संसारके संतोंमें भारतीय संतोंका सदासे उच्च स्थान रहा है और भारतीय संतोंमें भी जैन साधु-सन्तोंका आदर्श सर्वोच्च रहा है। जिन्होंने जैन शास्त्रोंका थोड़ासा भी अध्ययन किया है और जो सच्चे जैन साधुओंके सम्पर्कमें रहे हैं, वे यह बात भली भाँति जानते हैं कि जैन साधुओंका आचार विचार कितना पवित्र और महान् होता है। जैन साधुमें ही अहिंसामय परम धर्मका पूर्ण दर्शन होता है। ये साधु अपने आचार-विचारसे किसी प्राणीको कष्ट नहीं पहुँचाते, प्रत्युत प्राणिमात्रके उद्धारकी प्रतिक्षण भावना करते रहते हैं। यही कारण है कि ऐसे सार्वजनीन — सर्वहितकर — साधुओंको जैनोंने अपने अनादि मूल मंत्रमें स्थान दिया है और उन्हें "णमो लोए सव्वसाहूणं" कह कर भक्ति पूर्वक नमस्कार किया है।

आ० कुन्दकुन्दने ऐसे सार्व साधुओं का जो स्वरूप दिया है वह इस प्रकार है :—

णिव्वाण-साधए जोए, सदा जुज्जंति साधवो।
समा सव्वेसु भूदेसु, तम्हा ते सव्वसाधवो॥

( मूलाचार ५१२ )

जो सदा काल निर्वाण—साधक रत्नत्रयकी साधनामें तल्लीन रहते हैं और सर्व प्राणियों पर सम भाव रखते हैं—प्राणिमात्रके हित चिन्तक हैं—उन्हें सार्व साधु कहते हैं।

आ० कुन्दकुन्दने अपने मूलाचारमें साधुओंके आचार-विचारका बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है जिससे पता चलता है कि साधुओंका पूर्वकालमें कितना उच्च आदर्श था और वे चारित्ररूप गिरिकी शिखर पर आरूढ़ होकर किस प्रकार आत्म-साधना करते थे। ग्रन्थकारने साधुओंकी प्रत्येक क्रियाका वर्णन वर्तमान कालका क्रियापद देकर किया है, जिससे ज्ञात होता है, कि ग्रन्थवर्णित बातें केवल आदर्श ही आदर्श नहीं हैं, अपितु वे उनके जीवनमें रमी हुई सत्य घटनाएं हैं और उस समय ग्रन्थमें वर्णित आदर्शके अनुरूप मूर्तिमान् साधुगण इस भारतवर्षमें सर्वत्र विहार करते हुए दृष्टि-गोचर होते थे।

यद्यपि मूलाचारमें साधुओंके आचार-विषयक मुख्य-मुख्य सभी विषयोंका यथास्थान वर्णन किया गया है और इसका प्रत्येक अधिकार अपनी एक खास विशेषता को लिए हुए है, तथापि अनगारभावनाधिकार और समयसाराधिकार तो मूलाचारके सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अधिकार हैं। अन गार-भावनाधिकारको ग्रन्थकारने स्वयं सर्व शास्त्रोंका सारभूत अनगार-सूत्र कहा है। इसमें लिंग-शुद्धि व्रत-शुद्धि, वसति शुद्धि, विहार-शुद्धि, भिक्षा-शुद्धि, ज्ञान शुद्धि, उज्झन-शुद्धि, वाक्य शुद्धि, तपः - शुद्धि और ध्यान-शुद्धि, इन दश प्रकार की शुद्धियों का वर्णन किया गया है। इस प्रकरणको पढ़ते हुए पाठकके हृदय पर यह भाव अङ्कित हुए बिना नहीं रहता कि जैन साधुओंका धरातल संसारी प्राणियोंके धरातलसे कितना ऊँचा है, उनका आचार-विचार व्रती श्रावकोंसे भी कितना ऊँचा होता है और उनका हृदय कितना शुद्ध और पवित्र होता है। इस अधिकारमें वर्णित उक्त दश प्रकारकी शुद्धियोंका पाठकोंको कुछ परिचय कराया जाता है, जो कि आदर्श साधु जीवनके लिए सर्वोपरि अपेक्षित हैं।

१. लिंग-शुद्धि—निर्विकार, निर्ग्रन्थ-रूप शरीरकी शुद्धिको लिंग शुद्धि कहते हैं। साधु किसी भी प्रकारका बाह्य परिग्रह नहीं रखते, शरीरका संस्कार नहीं करते, यहाँ तक कि स्नान और दातुनसे भी उपेक्षित रहते हैं। केशोंका अपने हाथोंसे लोंच करके वे शरीरसे अपने निर्ममत्व भावको प्रकट करते हैं, घर-बार छोड़कर और कुटुम्बसे दूर रह कर वे संसार और परिवारसे अपने निःसंगत्व-भावका परिचय देते हैं। पांचों इन्द्रियोंके भोगोपभोगोंसे राग भाव छोड़कर वे अपनी वीतरागताका प्रमाण उपस्थित करते हैं। वे इस मनुष्य जीवनको चपला ( बिजली ) के समान चंचल, भोगोंको रोगोंका घर और असार जानकर संसार, देह और भोगोंसे विरक्त होकर जिनोपदिष्ट वीतरागधर्मको धारण करते हैं। वे जन्म-मरणके दुःखोंसे उद्विग्न एवं संसार-वाससे भयभीत होकर जिनोक्त तत्त्वोंका दृढ़ श्रद्धान करते हैं, कषायोंका परिहार करते हैं और उत्साह पूर्वक शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिए सतत अग्रेसर रहते हैं। इस प्रकार यथाजातरूप (नग्न) मुद्राको धारण कर वीतरागताकी आराधना करना ही साधुओंकी लिंग शुद्धि है। (गा० ७-१२)

२ व्रतशुद्धि—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह, इन पाँचों पापोंका मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे यावज्जीवनके लिए त्याग कर पांच महाव्रतोंका धारण करना, उन्हें प्राणान्तक परीषह और उपसर्गके आने पर भी मलिन नहीं होने देना व्रतशुद्धि कहलाती है जैन साधु क्रूर जंगली जानवरोंके द्वारा खाये जाने पर भी मनमें उनके प्रति दुर्भाव नहीं लाते, प्रत्युत यह चिन्तवन करते हैं कि यह बेचारा उपद्रव करने वाला मेरे उदयमें आने वाले दुष्कर्मोंके निमित्तसे पापका संचय कर रहा है, अहो, मैं कितना पापी हूँ। इस प्रकार स्वकर्म-विपाकका विचार कर उस पर क्षमाभाव धारण करते हैं। प्राण जानेका अवसर आने पर भी लेशमात्र झूठ नहीं बोलते, विना दी हुई मिट्टी तकसे भी हाथ नहीं धोते, अखंड ब्रह्मचर्य धारण करते हैं और मेरा ब्रह्मचर्य स्वप्नमें भी खंडित न हो जाय, एतदर्थ गरिष्ठ भोजन, और घृतादि रसोंका परिहार कर एक वार नीरस रूखा-सूखा आहार करते हैं। अति भयंकर शीत-उष्णकी बाधा होने पर भी सदा नग्न रहते हैं, वालाग्र मात्र भी वस्त्रादिको धारण नहीं करते। वे सदा अपरिग्रहके मूर्तिमान् स्वरूप होकर निज शरीरमें भी रंचमात्र ममत्व नहीं रखते और स्व-स्वभावमें सदा सन्तुष्ट रहते हैं इस तरह सर्व प्रकारसे महाव्रतोंका निर्दोष पालन करना व्रतशुद्धि है। ( गा० १३–१८ )

३ वसतिशुद्धि—वसति नाम निवासका है। विहार करते हुए साधुको जहाँ सूर्य अस्त होता हुआ दृष्टिगोचर होता है, वहीं किसी एकान्त, शुद्ध प्रासुक स्थान पर जहाँ पशु, स्त्री, नपुंसकादिकी बाधा न हो, ठहर जाते हैं। और सूर्योदयके पश्चात् विहार करे जाते हैं। वे ग्राममें एक रात्रि और नगरमें पाँच रात्रि तक रहते हैं। वे सदा एकान्त, शान्त स्थानमें निवास करते हैं और प्रासुक मार्ग पर ही विहार करते हैं। साधुजनोंके निवास-योग्य वसतिकाओंका विवेचन करते हुए मूलाचार-कार कहते हैं कि पर्वतोंकी कन्दराएँ, श्मशान भूमियाँ और शून्यागार ही श्रेष्ठ वसतिकाएँ हैं और इनमें ही वीर पुरुष निवास करते हैं। जो स्थान जंगली जानवरोंकी गर्जनासे गुंजायमान हैं, जहाँ व्याघ्र, चीता भालू आदिके शब्द सुनाई दे रहे हैं ऐसी गिरि-गुफाओंमें धीर वीर साधु जन निवास करते हैं। जहाँ सिंह विचरण करते हैं, ऐसे पर्वतोंके उपरितन, अधस्तन, मध्यवर्ती भागमें, या कन्दराओंमें वे नर-सिंह साधु जिनवचनामृतका पान करते हुए आवास करते हैं। वे साधुजन धर्ममें अनुरक्त हो, घोर अन्धकारसे व्याप्त, श्वापद सेवित, गहन वनोंमें रात्रि व्यतीत करते हैं, तथा स्वाध्याय और ध्यानमें लवलीन होकर रात भर सूत्रार्थ और आत्म-चिन्तन करते हुए निद्राके वशंगत नहीं होते हैं। वे वीर मुनिजन, वीरासन, पद्मासन, उत्कुटासन आदि विविध योगासनोंका आश्रय लेकर आत्मस्वरूपका चिन्तवन करते हुए गिरि-गुफाओंमें रह कर रात्रिको व्यतीत करते हैं। उपधि-भारसे विमुक्त, काय-ममत्वसे रहित, धीर वीर मुनियोंकी यही वसतिशुद्धि है और ऐसी वसतिका में रह कर ही साधुजन आत्म-सिद्धिकी साधना करते हैं। ( गा० १९-३ )

४ विहारशुद्धि—दयाके अवतार साधुजन प्राणिमात्रकी रक्षा करते हुए इस भूतल पर विहार करते हैं वे ज्ञानके प्रकाशसे जीव और अजीवके विभागको भली-भाँति जान करके सदा सावधान होकर सर्व सावद्य योगका परिहार करते हैं, पापसे दूर रहते हैं, किसी भी त्रस जीवको बाधा नहीं पहुँचाते, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकी न स्वयं विराधना करते हैं, न अन्यसे कराते हैं और न करते हुएकी अनुमोदना करते हैं। वे सर्व प्रकारके अस्त्र-शस्त्रादिकसे रहित होते हैं, सर्व-प्राणियों पर समभाव रखते हैं और आत्मार्थका चिन्तवन करते हुए सिंहके समान निर्भय होकर विचरते हैं। कषायोंका उपशमन या क्षपण करने वाले वे साधुजन सदा उन्नत मन, उपेक्षाशील, काम-भोगोंसे विरक्त, वैराग्य-भावनाओंसे परिपूर्ण और रत्नत्रय धर्मके आराधनमें उद्यत रहकर इस भव-वृक्षके मूलका उच्छेदन करते, रहते हैं। वे सदा अपनी विचक्षण बुद्धिसे कषायोंका दमन और इन्द्रियोंका निग्रह करते हुए अगर्भवसतिका अन्वेषण करते रहते हैं जिससे कि पुनः संसारमें जन्म न ग्रहण करना पड़े। इस प्रकार विचरनेकी शुद्धिको विहारशुद्धि कहते हैं। ( गा० ३१–४३ )

५ भिक्षाशुद्धि—भिक्षा अर्थात् भोजनकी शुद्धिको भिक्षाशुद्धि कहते हैं। साधुजन मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे शुद्ध, शंकादि दश दोषसे रहित,

नख-रोम आदि चौदह मलोंसे वर्जित और दूसरेके द्वारा भक्तिपूर्वक दिये हुए आहारको पर-घरमें ही पाणिपात्रमें रखकर भोजन करते हैं। वे अपने उद्देश्यसे बनाये गये, अपने लिए खरीदे गये, अज्ञात, शंकित, प्रतिषिद्ध और आगम-विरुद्ध आहारको ग्रहण नहीं करते। वे मौनपूर्वक विहार करते हुए धनी या निर्धनका ख्याल न करके जहाँ पर निर्दोष भोजन उपलब्ध हो जाता है, वहीं उसे ग्रहण कर लेते हैं। वे शीतल या उष्ण, सरस या नीरस, लोने, या अलोने, रूखे या चिकने आदिका कुछ भी विचार न करके श्रावकके द्वारा भक्तिपूर्वक दिये गये भोजनको समभावके साथ ग्रहण करते हैं। जिस प्रकार गाड़ीको ठीक प्रकारसे चलनेके लिए पहियोंमें ओंघनका लगाना जरूरी होता है उसी प्रकार शरीर धर्मसाधनके योग्य बना रहे, एतदर्थ वे निर्दोष आहारको ग्रहण करते हैं। आहारके मिलनेपर वे संतुष्ट नहीं होते और न उसके अलाभमें असंतुष्ट होते हैं। न मुँहसे आहारकी याचना करते हैं और न आहार देने वाले की प्रशंसा ही करते हैं। वे अप्रासुक, विवर्ण, जंतु-संसृष्ट, चलित, क्वथित, विरस और बासे भोजनको नहीं ग्रहण करते हैं। इस प्रकार भोजनकी शुद्धिका साधुजन भले प्रकारसे पालन करते हैं। (गा० ४४-६१)

६ ज्ञानशुद्धि—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी शुद्धिपूर्वक ज्ञानकी प्राप्तिके लिए नाना प्रकारके तपोंकी आराधना करते हैं, एकान्तमें निवास करते हैं, गुरुकी सुश्रूषा करते हैं, साथियोंके साथ तत्त्वोंका अनुमनन और चिन्तन करते हैं, सर्व प्रकारके गर्वसे दूर रहते हैं, जिनोक्त तत्त्वोंके श्रवण, ग्रहण और धारणमें तत्पर रहते हैं, अपनी साधनाके द्वारा अष्टांग महानिमित्तोंके, ग्यारह अंग और चौदह पूर्वोंके पारगामी होते हैं, पदानुसारी, बीजबुद्धि, संभिन्नश्रोतृत्व आदि ऋद्धियोंके धारक होकर परमपदका मार्गण करते रहते हैं। ऐसे साधुजनोंके ज्ञानशुद्धि कही गई है। (गा० ६२ ६६)

७ उज्झनशुद्धि—उज्झन नाम त्याग या परिहारका है। साधुजन सर्वप्रथम स्त्री, पुत्रादि, कुटुम्बी जनोंके स्नेहका त्याग करते हैं, पुनः धन, परिग्रहादिकी ममताका त्याग करते हैं, शरीरसे मोहका त्याग करते हैं, उसके संस्कारका त्याग करते हैं, स्नान, दातुन, तैल-मर्दन, अंजन, मंजन आदिका त्याग करते हैं। वे शरीरमें प्राण-हारिणी पीडाके उत्पन्न होने पर भी, आंखोंकी पीड़ा, शिरकी वेदना, उदरका शूल और वात-पित्तादिके विकार-जनित रोगोंके उत्पन्न होने पर भी स्वयं औषधि-सेवन नहीं करते और मनमें विकार तक नहीं उत्पन्न होने देते हैं। वे शारीरिक मानसिक सभी आधि-व्याधियोंकी परम औषधिरूप जिनवाणीका सदा अभ्यास करते रहते हैं। वे जन्म, जरा, मरणरूप रोगोंके निवारण करनेके लिये जिनवचनको ही परम अमृत मानते हैं वे सर्व प्रकारके आर्त्त और रौद्रध्यान का परित्याग करके धर्म और शुक्ल ध्यानका चिन्तवन करते हैं, सर्व विकार भावोंका परित्याग करके शुद्धभावों की प्राप्ति और पालन करनेमें प्रयत्नशील रहते हैं। शरीरको सर्व अशुचियोंका घर समझकर उससे उदासीन रहते हैं, उसमें भूल करके भी राग-भाव नहीं धारण करते हैं। इस प्रकार सांसारिक पदार्थोंका परित्याग करके वीतरागतास्वरूप शुद्धिको धारण करना उज्झनशुद्धि कहलाती है। (गा. ७०-८६)

८ वाक्यशुद्धि—वचनकी शुद्धिको वाक्यशुद्धि कहते हैं। साधुजन धर्म-विरोधी, दूसरोंको पीड़ाकारी एवं अनर्थजनक वचन भूल करके भी नहीं बोलते हैं। सर्वप्रथम तो साधु मौनको ही धारण करते हैं। यदि धर्मोपदेशादिके निमित्तसे बोलना भी पड़े तो हित, मित, प्रिय वचन ही बोलते हैं, अप्रिय और कटु सत्यको भी नहीं बोलते हैं। स्त्रीकथा, अर्थकथा, भोजनकथा राजकथा, चोरकथा, देशकथा, युद्धकथा मल्लकथा आदि विकथाओंको कभी नहीं कहते। वे इनका मन, वचन, कायसे परित्याग करते हैं। कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य-मय प्रलाप, हास्य, दर्प, गर्व और कलह उत्पादक वचन भूलकर भी नहीं कहते हैं। जब भी कहेंगे, तो आगमोक्त, धर्म-संयुक्त हित, मित ही कहेंगे। इस प्रकार साधुजन वाक्यशुद्धिकी निरन्तर भावना रखते हुए उसका समुचित पालन करते हैं। (गा० ८७-९५)

९ तपःशुद्धि—तपःसम्बन्धी शुद्धिको तपःशुद्धि कहते हैं। वे साधुगण लौकिक-मान प्रतिष्ठा आदिसे रहित होकर निश्छलभावसे अपने कर्मोंकी निर्जराके लिए तपश्चरण करते हैं, स्वाध्याय संयम और ध्यानमें सदा सावधान रहते हैं। जब हेमन्त ऋतुमें आकाशसे हिम वर्षा हो रही हो, उस समय वे खुले मैदानोंमें खड़े होकर शीतपरीषह सहन करते हैं। जब ग्रीष्मऋतुमें प्रचण्ड सूर्य अग्निवर्षा करता है, तब वे पर्वतोंकी शिखरोंपर ध्यान लगाकर उष्ण-

परीषह सहन करते हैं। जब वर्षाऋतुमें पानी मूसलाधार बरसता है, तब वे वृक्षोंके तले खड़े होकर ध्यान लगाते हैं। इस प्रकार वे परम तपस्वी साधु तीनों ऋतुओंमें घोर परीषह और उपसर्गोंको सहन करते हुए घोर तपश्चरण करते हैं। प्रबल शीतकालमें उनका सारा शरीर फट जाता है, अति उष्णकालमें सारा शरीर सूर्यकी प्रखर किरणोंसे झुलस जाता है, वर्षाऋतुमें जब डांस-मच्छरोंके उपद्रवसे सारा शरीर विकल हो उठता है, तब वे धीर-वीर परम शमभावसे उस वेदनाको सहन करते हुए सदा कर्म-क्षपणमें उद्यत रहते हैं। कोई उन्हें दुर्वचन कहे, मारे, नानाप्रकारकी यातनाएं दे, शस्त्र-प्रहार करे, तो भी वे क्षमाके सागर प्रहार करने वालों पर जरा भी कुपित नहीं होते। सदा पांचों इन्द्रियोंका दमन करते और कषायोंका निग्रह करते हुए अपनी आवश्यक क्रियाओंका पालन करते रहते हैं। इस प्रकार परम विशुद्धि-पूर्वक तपश्चरण करना तपःशुद्धि है। (गा० ९६-१०६)

१० ध्यानशुद्धि—मनकी चंचलताको रोकना, उसे विषय कषायोंमें प्रवृत्त नहीं होने देना ध्यानशुद्धि कहलाती है। जैसे मदोन्मत्त हाथी अंकुशसे वशमें हो जाता है, उसी प्रकार साधुजन अपने मनरूपी मत्त हस्तीको ज्ञानरूप अंकुशसे वशमें रखते हैं। अथवा विषयोंमें दौड़ते हुए चपल इन्द्रियरूप अश्वोंको वे योगिजन गुप्तिरूप लगामके द्वारा उन्हें अपने आधीन रखते हैं। राग, द्वेष, मोहको दूरकर, आर्त्त और रौद्रभावोंका परित्याग कर सदा धर्म-ध्यानमें रत होकर शुक्ल ध्यानको प्राप्त करनेका प्रयत्न करते रहते हैं। जिस प्रकार प्रबल आँधी और तूफान आने पर भी सुमेरु अचल रहता है, उसी प्रकार वे साधुजन प्रबल उपसर्गादिकके आने पर भी अपने ध्यानसे रंचमात्र चल-विचल नहीं होते। यही उनकी ध्यानशुद्धि है। (गा० १०७-११६)

इस प्रकार इन शुद्धियोंका वर्णनकर मूलाचार-कार कहते हैं कि उक्त शुद्धियोंको धारण करने वाले साधुओंको श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, अनगार, वीतराग, भदन्त और दान्त आदि नामोंसे पुकारा जाता है, और ऐसे ही ऋषिराज अपनी रत्नत्रयकी विशुद्धिके द्वारा सर्व कर्मोंका क्षय करके परम सिद्धिको प्राप्त करते हैं।

इस अधिकारका विहगावलोकन करने पर एक बात जो पाठकके हृदय पर अंकित होती है और उस पर अपना सर्वाधिक प्रभाव डालती है, वह यह है कि साधुका जीवन कितना पवित्र और उच्च आदर्शयुक्त होता है कि वह अपने आहार-विहारसे किसीको पीड़ा नहीं पहुँचाना चाहता, दुनियादारीसे सम्पर्क रखकर चित्तकी शुद्धिको बिगाड़ना नहीं चाहता और परिग्रह-भारका परित्यागकर निराकुल रहना चाहता है। वह साधु-वेषकी मर्यादा रखनेके लिए सदा सावधान रहता है। ग्राम और नगरोंके कोलाहलपूर्ण वातावरणसे अति दूर होकर निर्जन वन-वसतिकाओं और गिरि-कन्दराओंमें रहना स्वीकार करता है। वसति-शुद्धिका प्रकरण पढ़ते हुए सहसा समाधितंत्रका यह श्लोक याद आ जाता है :—

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥७२॥

अर्थात्—मनुष्योंके सम्पर्कसे वचनकी प्रवृत्ति होती है, वचनकी प्रवृत्तिसे मनमें व्यग्रता उत्पन्न होती है मनकी व्यग्रतासे नाना प्रकारके विकल्प उत्पन्न होते हैं और विकल्पोंसे कर्मास्रव होता है, इसलिए परम शान्तिके इच्छुक साधुओंको चाहिए कि वे लौकिकजनोंके साथ संसर्गका परित्याग करें।

कहनेका आशय यह है कि जहाँ भी लौकिक जनोंका सम्पर्क होता है, वहाँ कुछ न कुछ वार्तालाप अवश्य होता है, उससे चित्तमें चंचलता पैदा होती है और उससे नाना प्रकारके संकल्प-विकल्प उत्पन्न होते हैं। अतः आत्मस्वरूपके साधन करने वाले साधुओंको निर्जन एकान्त, शान्त वसतिकाओंमें ही निवास करना चाहिए, नगरोंके कोलाहलपूर्ण वातावरणमें नहीं।

इस अधिकारको पढ़ते हुए वीतराग साधुओंका मूर्त्तमान् रूप पाठकके सम्मुख आ उपस्थित होता है। पावनता और विशुद्धिताके आगार उन अनगार-साधुओंको नमस्कार है।

## समयसाराधिकार—

मूलाचारका समयसाराधिकार तो सचमुच समय अर्थात् जैन शासनका सार ही है। 'समयसार' इस पदका अर्थ करते हुए टीकाकार आ० वसुनन्दि लिखते हैं :—

'समयसारं द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वाणां सारं परमतत्त्वं मूलगुणोत्तरगुणानां च दर्शनज्ञानचारित्राणां शुद्धि-विधानस्य च भिक्षाशुद्धेश्च सारभूतं।'

अर्थात्—'यह समयसार अधिकार बारह अंग और चौदह पूर्वोंका सार है, परम तत्त्व है, तथा मूलगुण, उत्तर

गुण, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी शुद्धिके विधानका और भिक्षाशुद्धिका सारभूत है।'

इस प्रकार इस अधिकारका महत्त्व उसके नामसे ही स्पष्ट है। अधिकारका प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि जो श्रमण द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और संहननकी अपेक्षा जैसा प्रयत्न या परिश्रम करता है, तदनुसारही वह अल्पकालमें सिद्धिको प्राप्त करता है। इसका अभिप्राय यह है कि साधुको अपने द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव और काय-बलके अनुसार अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए। साधु आत्मसिद्धिको किस प्रकार शीघ्र प्राप्त कर लेता है, प्रश्नका उत्तर देते हुए मूलाचारकार कहते हैं कि जो धीर-वीर है अर्थात् परीषह और उपसर्गोंको दृढ़तापूर्वक सहन करता है, वैराग्यमें तत्पर है—अर्थात् संसार, देह और भोगोंसे विरक्त चित्त है, वह साधु थोड़ा भी पढ़कर-अष्ट प्रवचन-माताका और अपने कर्त्तव्यका परिज्ञान कर लेता है, वह सिद्धिको पा लेता है, परन्तु जो वैराग्यसे रहित है—जिसका चित्त संसार, देह और भोगोंमें आसक्त है, वह सर्व शास्त्रोंको पढ़ करके भी सिद्धिको प्राप्त नहीं होता है। इस उत्तरके द्वारा ग्रन्थकार आ० कुन्दकुन्दने साधुओंको उनका कर्त्तव्य बतलाते हुए एक बहुत ही महत्त्वकी बात कही है कि साधुको वैराग्यसे भरा हुआ होना ही चाहिए। यदि वह वैराग्यसे भरपूर नहीं है और उसका चित्त सांसारिक प्रपंचों और विषय वासनाओंमें उलझा हुआ है तो वह कभी भी सिद्धिको नहीं पा सकता। ( गा० २-३ )

अनगारभावनाधिकारके अध्ययनसे जहाँ यह विदित होता है कि मूलाचार-कारके समयमें साधुगण नगरोंसे दूर निर्जन, एकान्त, शान्त वन-प्रदेशोंमें रहकर मौन-पूर्वक आत्मसाधनामें तत्पर रहते थे, वहाँ इस अधिकारके अध्ययनसे यह भी ज्ञात होता है कि साधुजनोंमें कुछ शिथिलाचारका प्रवेश होने लगा था और वे गोचरी-कालके अतिरिक्त अन्य समयमें भी नगरोंमें रहने लगे थे, आहारकी मात्राका उल्लंघन करने लगे थे, व्यर्थ अधिक बोलने लगे थे, परीषह और उपसर्गोंके दुःख सहन करनेमें कायरपनेका अनुभव करने लगे थे। उन्हें रात्रिमें निद्रापर विजय पाना कठिन प्रतीत होने लगा था तथा वैराग्य और मैत्रीभावकी कमी होने लगी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि साधुजनोंके इस प्रकारके व्यवहार और आचारको देखकर आ० कुन्दकुन्दका हृदय आन्दोलित हो उठा है और उन्होंने अत्यन्त प्रेमसे सूत्ररूपमें उपदेश देते हुए और साधुजनोंको संबोधन करते हुए कहा है :—

भिक्खं चर वस रण्णे थोवं जेमेहि मा बहू जंप।
दुक्खं सह जिण णिद्दां मेत्तिं भावेहि सुट्ठु वेरग्गं ॥४॥

हे साधुओ, हे श्रमणो, तुम लोग कहां भटके जा रहे हो और अपने कर्तव्यको भूल रहे हो? ग्रामों और नगरोंमें केवल भिक्षाके लिए आनेका तुम्हें आदेश है, वहाँ बसनेका नहीं; अतः भिक्षाके समय ग्राम या नगरमें जाओ और आहार करके तुरन्त वनको वापिस लौट आओ। गाथाके इस प्रथम चरण द्वारा साधुओंको उनके बड़े भारी कर्तव्यका भान कराया गया है और नगर-निवाससे उत्पन्न होने वाले अनेक दोषोंसे साधु-जनोंको बचानेका प्रयास किया गया है। गाथाके द्वितीय चरण द्वारा एक विधानात्मक और एक निषेधात्मक ऐसे दो उपदेश एक साथ दिए गए हैं। वे कहते हैं कि हे भिक्षुओ! थोड़ा जीमो और अधिक मत बोलो। कितना सुन्दर और मार्मिक उपदेश है। मनुष्य जब अधिक खाता है तब अधिक बोलता भी है। एक ओर जहाँ अधिक खानेसे आलस्य और निद्रा मनुष्यको पीड़ित करती है, वहाँ दूसरी ओर अधिक बोलने वाले मनुष्यके द्वारा सत्यका संरक्षण नहीं हो पाता। इसलिए आचार्य उपदेश देते हैं कि कम खाओ और कम बोलो। ध्यान और अध्ययनकी सिद्धि तथा चित्तकी विशुद्धिके लिए इन दोनों बातोंका होना अत्यन्त आवश्यक है। गाथाके तीसरे चरण द्वारा आचार्य उपदेश देते हैं कि हे साधुओ, दुःखको सहन करो और निद्राको जीतो। आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिए निद्राको जीतना और दुःखोंको सहन करना अत्यन्त आवश्यक है। निद्रा मनुष्यको अचेतन कर देती है और उसके हिताहित-विवेकको शून्य बना देती है। इसके विपरीत जो निद्रा पर विजय प्राप्त करता है, उसकी बुद्धि तीक्ष्ण होती है तथा ग्रहण और धारणा शक्ति बढ़ती है। इसी प्रकार शान्तिके साथ दुःख सहन करनेसे तपोबल बढ़ता है और उससे संचित कर्मोंकी निर्जरा द्वारा आत्मस्वरूपकी सिद्धि होती है, अतएव मुमुक्षु श्रमणको दुःखोंका सहन करना और निद्रा पर विजय पाना अत्यन्त आवश्यक है। चतुर्थ चरणके द्वारा आचार्य उपदेश देते हैं कि प्राणिमात्र पर मैत्रीभाव रखो और अच्छी तरहसे वैराग्य की भावना भावो। ( गा० ४ )

इससे आगे मूलाचार-कार कहते हैं कि यदि तुम संसार-सागरसे पार होना चाहते हो, तो सर्व लोक-व्यवहार-को छोड़ो; आरंभ, परिग्रह और कषायोंका परित्याग करो; एकत्व की भावना भाओ और एकाग्र चित्त होकर आत्म ध्यानको करो। संसार-सागरको पार करनेके लिये चारित्र नौका है, ज्ञान खेवटिया है और ध्यान पवन है। इन तीनोंके समायोगसे ही भव्यजीव भव-सागरके पार उतरते हैं। (गा० ५-७)

इसी बातको आचार्य प्रकारान्तरसे कहते हैं कि ज्ञान मार्ग-दर्शक है, तप शोधक है और संयम रक्षक है। इन तीनोंके समायोगसे ही मोक्ष प्राप्त होता है। यथा—

णाणं पयासओ तओ सोधओ संजमो य गुत्तियरो।
तिण्हं पि संजोगे होदि हु जिणसासणे मोक्खो ॥८॥

सम्यग्दर्शनका माहात्म्य प्रकट करते हुए मूलाचार-कार कहते हैं कि सम्यक्त्वसे तत्त्वोंके ज्ञानकी उपलब्धि होती है, तत्त्वज्ञानसे सर्व पदार्थोंका यथार्थ बोध प्राप्त होता है और यथार्थ बोधसे मनुष्य श्रेय-अश्रेयको—अपने कल्याण और अकल्याणको जानता है। श्रेय-अश्रेयका ज्ञाता दुःशील या अकर्तव्यको छोड़कर शीलवान् बनता है और फिर उससे अभ्युदय और निःश्रेयसको प्राप्त करता है। इसलिए सर्व प्रथम सम्यक्त्वको प्राप्त करना चाहिए।

(गा० १२-१३)

आगे कहा गया है कि अच्छी तरहसे पठित और सुगुणित भी सर्व श्रुतज्ञान चारित्रसे भ्रष्ट श्रमणको सुगतिमें नहीं ले जा सकता है यदि कोई दीपक हाथमें लेकर कूपमें गिरता है तो उसके हाथमें दीपक लेनेसे क्या लाभ है? इसी प्रकार यदि कोई सर्व शास्त्रोंको पढ़ करके भी कुमार्ग पर चलता है; तो उसके शास्त्र-शिक्षासे क्या लाभ है। (गा० १४-१५)

श्रमण-लिंग—

साधुका लिंग या वेष कैसा होता है, इस प्रश्नका उत्तर देते हुए कहा गया है कि अचेलकता, केशलुंचिता, व्युत्सृष्ट-शरीरता और प्रतिलेखन रखना, यह चार प्रकारका लिंगकल्प होता है। किसी भी प्रकारका वस्त्रादि परिग्रह नहीं रखना अचेलकता है। शिर और दाढ़ीके बालोंका अपने हाथसे उखाड़ना केश-लुंचिता है। शरीरके स्नान, अभ्यंग, संस्कारादिको छोड़कर उससे रागभावके दूर करनेको व्युत्सृष्टशरीरता कहते है। जीवोंकी रक्षार्थ कोमल प्रतिलेखनको रखना चौथा श्रमण-चिन्ह है। (गा० १७)

प्रतिलेखन कैसा हो, इसका विवेचन करते हुए कहा गया है कि जो रज-धूलि को ग्रहण न करे, प्रस्वेद-पसीना-को ग्रहण न करे, जिसमें मृदुता हो, सुकुमालता हो और लघुता हो, ऐसे पांच गुणोंसे युक्त मयूरपिच्छका प्रतिलेखन साधुओंके ग्रहण करने योग्य है। मयूर-पिच्छ इतने कोमल होते हैं कि उन्हें शरीरके सबसे अधिक सुकुमार अङ्ग - आंखोंके ऊपर भी प्रमार्जन कर देने पर उनमें कोई पीड़ा नहीं होती। अतः इसके द्वारा भूमिके प्रमार्जन करने पर आंखोंसे नहीं दिखाई देने वाले सूक्ष्म जीवों तक की भी विराधना नहीं होती। धूलि और पसीनाके न लगनेसे उसमें सम्मूर्च्छन जीवोंकी उत्पत्ति नहीं होती। बालोंके प्रतिलेखनमें त्रसजीव उत्पन्न हो जाते हैं, अन्य वस्तुओंके प्रतिलेखन कर्कश होते हैं, जिससे कि जीवघातकी शंका बनी रहती है, अतएव उपर्युक्त पंचगुण-विशिष्ट मयूर-पिच्छोंका प्रतिलेखन ही साधुओंको ग्रहण करनेके योग्य है। (गा० १९-२३)

अधःकर्म-भोजीके दोष—

जीवोंकी विराधनासे उत्पन्न होने वाले आहारको अधः-कर्म दूषित माना जाता है। जो साधु निरन्तर मौन रखता हो, आतापनादि योग और वीरासन आदिको करता हो, वनमें रहता हो, परन्तु यदि वह अधःकर्म - दूषित भोजन ग्रहण करता है; तो उसके उपर्युक्त सर्व योग निरर्थक कहे गये हैं। (गा० ३१-३२) जो साधु गुरुके समीप सायं-प्रातः आलोचना और प्रतिक्रमण करके भी अधः कर्म-परिणत आहारको ग्रहण करता है, उसे संसारका बढ़ाने वाला कहा गया है। अधःकर्म-परिणत साधु सदा कर्म-बन्ध करने वाला माना गया है। (गा० ३९-४३) इसलिए प्रति दिन निरवद्य-निर्दोष अल्प आहारका ग्रहण करना उत्तम है, परन्तु वेला, तेला आदि अनेक उपवासों को करते हुए अधःकर्म-परिणत आहारको ग्रहण करना अच्छा नहीं है (गा० ४७) अतः धर्म-साधनके योग्य भक्ति-पूर्वक दिया गया, सर्व मल-दोषोंसे रहित विशुद्ध-प्रासुक आहार ही साधुको ग्रहण करना चाहिए। (गा० ५१ ५२)

जुगुप्साका त्याग आवश्यक है—

व्यवहारकी शुद्धि और परमार्थकी सिद्धिके लिए लौकिक और लोकोत्तर जुगुप्सा या अशुचिताका परिहार भी साधु को करना चाहिए। यदि साधु व्यावहारिक शुद्धि नहीं रखता, तो वह लोक-निन्दाको प्राप्त होता है और यदि परमार्थ शुद्धि नहीं रखता, तो व्रत-भंगको प्राप्त होता है। इसलिए जिस प्रकार संयमकी विराधना न हो और लोकनिन्दा भी न हो उस प्रकारसे साधुको दोनों प्रकारकी जुगुप्साओंका परित्याग करना आवश्यक है। (गा० ५५)

निमित्त कारणोंकी उपयोगिता—

कुछ लोग उपादानको ही प्रधान मानकर निमित्त कारणोंकी अवहेलना या उपेक्षा करने लगे हैं उनके लिए मूलाचार-कारका यह कथन खास तौरसे ध्यान देनेके योग्य है :—

जत्थ कसायुप्पत्तिरभत्तिदियदारइत्थिजणबहुलं ।
दुक्खमुवसग्गबहुलं भिक्खू खेत्तं विवज्जेऊ ॥५८॥

अर्थात्—जिस क्षेत्रमें कषायोंकी उत्पत्ति हो, आदरका अभाव हो, मूर्खताकी अधिकता हो, इन्द्रियोंके विषयोंकी बहुलता हो, स्त्रियोंका प्राचुर्य हो, क्लेश अधिक हों और उपसर्ग बहुत हों, ऐसे स्थानका साधु परित्याग करे।

इस उल्लेखमें कुक्षेत्र पर निवास करनेका स्पष्ट निषेध किया गया है। यदि द्रव्य, क्षेत्र; काल, भाव अपना प्रभाव न डालते होते, तो इस प्रकार स्पष्ट रूपसे खुले शब्दोंमें कुक्षेत्रमें निवासका निषेध कैसे किया जाता? इससे ज्ञात होता है कि क्षेत्रादिक अपना-अपना असर जरूर डालते हैं।

इससे आगे और भी ग्रन्थकार कहते हैं :—

णिवदिविहूणं खेत्तं णिवदी वा जत्थ दुट्ठओ होज्ज।
पव्वज्जा च ण लब्भइ संजमघादो य तं वज्जे ॥६०॥

अर्थात्—जो देश राजासे रहित हो, अथवा जहाँका राजा दुष्ट हो, भिक्षा भी न मिले, दीक्षा ग्रहण करनेमें रुचि भी न हो और संयमका घात हो, ऐसे देशका साधु अवश्य परित्याग करे।

मूलाचार-कार इस प्रकार कुक्षेत्रके निवासका निषेध करनेके अनन्तर सुक्षेत्रके निवासका विधान करते हुए कहते हैं :—

गिरिकंदरं मसाणं सुण्णागारं च रुक्खमूलं वा।
ठाणं विरागबहुलं धीरो भिक्खू णिसेवेऊ ॥५९॥

अर्थात्—गिरिकन्दरा (पर्वतोंकी गुफाएं) स्मशान भूमि, शून्यागार (सूना—खाली पड़ा हुआ मकान) और वृक्षका मूलभाग तथा जहां पर वैराग्य उत्पन्न हो वैराग्यकी वृद्धि और रक्षा हो, ऐसे विराग-बहुल स्थानको धीर वीर भिक्षु-साधु सेवन करे।

बाह्य द्रव्योंका भी प्रभाव आत्मा पर पड़ता है, इस बातका वर्णन करते हुए मूलाचार-कार कहते हैं :—

वड्ढदि बोही संसग्गेण तह पुणो विणस्सेदि।
संसग्गविसेसेण दु उप्पलगंधो जहा अंभो ॥६३॥

अर्थात्—उत्तम जनोंके संसर्गसे बोधि-रत्नत्रयकी प्राप्ति और वृद्धि होती है और दुर्जनोंके संसर्गसे ही बुद्धिका विनाश हो जाता है। जैसे कमलकी सुगंधके संसर्गसे जल सुगंधित एवं शीतल हो जाता है और अग्नि, सूर्यादिके सम्बन्धसे वह उष्ण और विरस हो जाता है।

यदि उपादान कारण ही बलवान होता और निमित्त-कारण कुछ भी न करते होते तो क्यों इस प्रकारसे कुक्षेत्र निवासके परित्यागका उपदेश दिया जाता और क्यों सुक्षेत्रमें निवासका विधान किया जाता?

वस्तुतः उपादानके कमजोर होने पर प्रत्येक बाह्य वस्तु सकषाय आत्मापर अपना प्रभाव डालती है और वह उससे प्रभावित भी होता है। जब कोई अभ्यासी धीरे-धीरे बुरे बाह्य कारणोंको दूर कर उत्तम बाह्य निमित्तोंको जुटाता है और उनके आधार या निमित्तसे अपने आपको संस्कारित करता है, तभी वह उत्तम उपादान शक्तिको सम्पन्न कर पाता है और ऐसी अवस्थामें ही उसके योग्य निमित्त स्वयं हाजिर रहते हैं।

एकलविहारी साधु पाप-श्रमण है—

साधुको सदा संघमें रहनेकी जिनाज्ञा है। केवल उसी साधुको अकेले विहार करनेकी आज्ञा दी गई है, जिसने कि चिरकाल तक साधु-संघमें रहकर तप और श्रुतका भली-भांति अभ्यास किया है, जो परीषह और उपसर्गोंके सहन करनेकी अलौकिक शक्ति रखता है—देश और कालका ज्ञाता है, उत्कृष्ट संहननका धारक, परम धैर्य-शाली चिरकालका दीक्षित और आगम बलका धारक है। (समा० १४६) यदि उक्त गुणोंके प्राप्त हुए विना कोई साधु आचार्य कुलको-संघको छोड़कर अकेले विहार करता है तो वह 'पापश्रमण' कहा गया है (समय० ६८) मूलाचार-कार अपने समयमें ऐसे ही किसी स्वच्छन्द-विहारी साधुका वर्णन करते हुए लिखते हैं —

आयरियत्तणतुस्सिओ पुव्वं सिस्सत्तणं अकाऊणं।
हिंडई दुंढायरिओ णिरंकुसो मत्तहत्थि व्व ॥६६॥

अर्थात्—कोई दुंढाचार्य किसी साधु संगमें रहकर और शिष्यपनेका अभ्यास न करके शीघ्रतासे स्वयं आचार्य बनने की भावनासे प्रेरित होकर मदोन्मत्त हस्तीके समान निरंकुश घूमता-फिरता है।

आ० कुन्दकुन्द ऐसे स्वच्छन्द विहारी एकाकी साधुके दोष बतलाते हुए मूलाचारके समाचाराधिकारमें कहते हैं—

सच्छंद गदागदी-सयण णिसयणादाणभिक्खवोसरणे।
सच्छंदजंपरोचि य मा मे सत्तू वि एगागी ॥१५०॥

साधु-चर्याका ध्यान न रखकर स्वतंत्रतासे गमनागमन शयन-आसन, आदान-निक्षेपण करने वाला और स्वच्छन्द होकर आहार विहार करने वाला ऐसा मेरा शत्रु भी मत हो! फिर साधुकी तो बात ही क्या है? अर्थात् साधुको कभी एकाकी नहीं रहना चाहिए।

मूलाचार-कार एकाविहारी साधुके दोष बतलाते हुए कहते हैं कि साधुके अकेले विहार करनेसे गुरुकी निन्दा होती है, श्रुतका विच्छेद हो जाता है, तीर्थकी मलिनता होता है, जड़ता-मूर्खता की वृद्धि होती है, विह्वलता और कुशीलता प्राप्त होती है। (सामा० १५१) इसलिए साधु को सदा संघ में ही रहना चाहिए।

स्वाध्यायसे लाभ—

स्वाध्याय करनेके लाभ बतलाते हुए आ० कुन्दकुन्द कहते हैं कि स्वाध्याय करनेसे मनुष्य ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न होता है, कषाय और गारवसे उन्मुक्त होता है और सद्ध्यानमें तल्लीन रहता है जिससे कि वह अल्पकालमें ही संसारसे पार हो जाता है। स्वाध्याय करते समय मनुष्यकी इन्द्रियां अपने विषयोंमें प्रवृत्त नहीं होतीं, अत इन्द्रियों पर सहजमें ही विजय प्राप्त होता है। मन, वचन कायकी चंचलता रुकनेसे वह तीन गुप्तियोंका भी धारक बन जाता है और स्वाध्यायमें तन्मय हुए साधुका चित्त भी सहजमें एकाग्र हो जाता है। स्वाध्याय की महिमाका गान करते हुए मूलाचार-कार कहते हैं—

बारसविधम्हि य तवे सब्भंतर बाहिरे कुसलदिट्ठे।
णवि अत्थि णवि य होहदि सज्झायसमं तवोकम्मं॥७६॥

अर्थात्–जिनेन्द्र–उपदिष्ट बाह्य – आभ्यन्तर बारह प्रकारके तपोंमें स्वाध्यायके समान परम तप न अन्य है और न होगा। इसलिए साधुको सदा स्वाध्यायमें निरत रहना चाहिए।

अनन्त संसारके कारण—

जीवको अनादि कालसे आज तक संसारमें परिभ्रमण कराने वाले राग द्वेष हैं और इनकी उत्पत्ति जिह्वा और उपस्थ (स्पर्शन) इन्द्रियके निमित्तसे होती है। इन दोनों इन्द्रियोंके वश होकर ही यह जीव अनन्त दुःखोंको भोगता चला आरहा है, इसलिए इन्हें जीतनेका भर-पूर प्रयत्न करना चाहिए। (९६-९८) मूलाचार कार कहते हैं कि चित्र-गत भी स्त्रीरूपके दर्शनसे मनुष्यके हृदयमें क्षोभ उत्पन्न हो जाता है, इसलिए उसे अपने ब्रह्मचर्य की रक्षाके लिए माता, बहिन, बेटी, मूका, गूंगी और वृद्धा स्त्रियों तकके संपर्कसे सदा दूर रहना चाहिए; क्योंकि पुरुष घी से भरे हुए घड़ेके सदृश होता है और स्त्री जलती हुई अग्निके समान होती है। इन दोनोंके संसर्गमात्रसे मनुष्योंका हृदय द्रवित हो उठता है। अनेक योगी स्त्री-सम्पर्कसे भ्रष्ट हो चुके हैं, इसलिए कुरूपा सुरूपा सभी प्रकार की स्त्रियोंसे सदा दूर रहना चाहिए (९९-१००)।

अब्रह्मके कारण—

यद्यपि मनुष्य तीव्र चारित्र-मोहोदय के उदयसे ही अब्रह्ममें (स्त्री-पुरुषसम्बन्धी विषय - सेवनमें) प्रवृत्त होता है, तथापि उसके कारणभूत द्रव्यों पर भी मूलाचार-कारने प्रकाश डाला है। उन्होंने अब्रह्मके दश द्रव्य कारण बतलाये हैं, जो इस प्रकार हैं :—१ विपुल-आहार-अधिक मात्रामें आहार ग्रहण करना, २ काय-शोधन—स्नान, तैल मर्दनादि राग वर्धक राग-कारणोंसे शरीरका संवारना, शृंगार करना, ३ सुगन्धित माला धारण करना, इत्रादि लगाना, ४ गीत-वादित्रादि सुनना, ५ शयन-शोधन—कोमल शय्या रखना शयनागार को काम वर्धक चित्रोंसे सजाना, ६ स्त्री-संसर्ग—राग बहुल स्त्रियोंके साथ संपर्क रखना, ७ अर्थ-ग्रहण—रुपया-पैसा रखना, रत्न-सुवर्णादि के आभूषण और उत्तम वस्त्रादि रखना, ८ पूर्व-रति-स्मरण—पूर्वकालमें भोगे हुए भोगोंका स्मरण करना, ९ इन्द्रिय-विषयरति—पांचों इन्द्रियोंके विषयोंमें रति या प्रीति रखना, और १० प्रणीत रस-सेवन—गरिष्ठ और पौष्टिक रसोंका सेवन करना। मूलाचार-कारने इन दशों ही द्रव्य कारणों को ब्रह्मचर्यका घातक एवं संसारके महा-

दुःखोंका प्रधान कारण कहा है। इनमेंसे साधुओंके साधारणतः नं० २, ३, ४, ५, ६, ७, के कारणोंका तो त्याग होता ही है, क्योंकि वे बाह्य पदार्थोंसे सम्बन्ध रखते हैं नं० ८ और ९ के कारण मनसे सम्बन्ध रखते हैं, तथा नं० १ और १० के कारण भोजनसे सम्बन्ध रखते हैं। यदि साधु नीरस और अल्प-भोजी है, तब तो उसके सहजमें ही ब्रह्मचर्यका साधन संभव है। पर यदि वह सरस, गरिष्ठ और विपुल भोजी है, तब उसके ब्रह्मचर्यका पालन होना संभव नहीं। यदि साधुने नं० १ और १० के इन दोनों अब्रह्मके द्रव्य-कारणोंका सर्वथा त्याग कर दिया है, तो शेष आठ मध्यवर्ती कारणोंका उसके सहजमें ही त्याग संभव है। अतः साधुको नीरस और अल्पभोजी होना ही चाहिए। (१०५–१०७)

पूर्ण-श्रमण—

जो अन्तरंग १४ प्रकारके और बहिरंग १० प्रकारके परिग्रहसे रहित हो सर्व प्रकारके आरंभोंका त्यागी हो, पाँच समिति और त्रिगुप्तिसे युक्त हो, भिक्षावृत्तिसे शुद्धचर्या करने वाला हो, व्रत, गुण और शीलसे संयुक्त हो, शुद्ध भावोंका धारक हो हितमित-प्रिय-भाषी हो, एकाग्र होकर ध्यान और अध्ययनमें रत हो और अत्यन्त सावधान होकर जीव रक्षामें तत्पर हो, वह सर्व गुण-सम्पन्न पूर्ण श्रमण कहा गया है। (१०८ से ११५)

ऐसा सर्वगुण-सम्पन्न और सर्व-दोष रहित श्रमण ही सिद्धिको प्राप्त करता है। यही समयसार है और इसका प्रतिपादन करना ही समयसाराधिकारका प्रयोजन है।